लड़कियों का बचपन और उनकी शिक्षा*

कृष्ण कुमार

"

सामाजीकरण की प्रक्रिया लड़के और लड़की को एकदम फर्क तरीके से गढ़ती है। एक ही समाज का हिस्सा होने के बावजूद उनके जीवन के अनुभव भिन्न होते हैं। बचपन से शुरू हुई इस प्रक्रिया का असर उनके शैक्षिक अनुभवों पर भी होता है। यह व्याख्यान शिक्षा और समाज के द्वंद्व की छानबीन करता है।

"

हर बच्चे को स्कूल में लाने वाला कानून भारत के लम्बे सामाजिक इतिहास में एक नए अध्याय की शुरुआत है। इस कानून पर अमल फ़िलहाल भले काफ़ी लचर दिखता हो, इसमें संदेह नहीं कि दाखिले की दृष्टि से आज एक अभूतपूर्व स्थिति बनी है। पहली से पांचवीं कक्षाओं में लड़कियों की उपस्थिति देखकर लोगों के मन में इस विचार का आना स्वाभाविक है कि शिक्षा में लिंगभेद घट रहा है। इस विचार को सवालों के घेरे में लाना आज के व्याख्यान का मुख्य उद्देश्य है। इनमें से कुछ सवाल शिक्षा से होंगे, पर ज़्यादातर सवाल समाज से होंगे।

शिक्षा सिर्फ़ एक सरकारी उपक्रम ही नहीं, सामाजिक संस्था भी है। वह समाज की संस्कृति से प्रभावित होती है और उस पर प्रभाव भी डालती है। शिक्षा और संस्कृति की संयुक्त जांच का लड़कियों के संदर्भ में विशेष महत्त्व है, क्योंकि उनके स्कूली जीवन के वर्षों पर परिवार और बिरादरी की घनी, लम्बी छाया हर दिन बनी रहती है। लड़की पैदा होते ही रीति के घेरे में आ पहुंचती है, और जैसे-जैसे बड़ी होती है, रीति-रिवाजों की जकड़ बढ़ती जाती है। किशोर आयु के लड़के-लड़कियां स्कूल में साथ-साथ पढ़ें या अलग, भले ही वे एक-सा पाठ्यक्रम पढ़ें और एक-सी परीक्षा दें, उनके शैक्षिक अनुभव समान नहीं हो सकते क्योंकि समाज की सांस्कृतिक इंजीनियरी उनके मानसिक ढांचों को एकदम अलग सांचों में ढालकर बनाती है। शैशवकाल से ही बिल्कुल जुदा रूप ले लेने वाले ये सांचे सामाजिक जीवन की नींव में असंतुलन पैदा कर देते हैं। पुरुष और स्त्री मनुष्य के दो रूप हैं, पर उनके बचपन के अनुभव और सरोकार लैंगिक संबंधों में गहरी ऊंच-नीच पैदा कर देते हैं। व्याख्यान में हम इस असमतुल्यता का निर्माण करने वाले सांस्कृतिक स्थापत्य व शिल्प की जांच करेंगे ताकि शिक्षा की सीमाओं और संभावनाओं को बेहतर ढंग से समझ सकें।

लेखक परिचय

जानेमाने शिक्षाविद्, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के पूर्व निदेशक और वर्तमान में दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा संकाय में अध्यापनरत हैं।

* यह व्याख्यान 'फरीदा लास्की स्मृति व्याख्यान' की बारहवीं शृंखला के तौर पर फरीदा लास्की ट्रस्ट, लखनऊ द्वारा 19 फरवरी, 2015 को आयोजित किया गया था। साझी दुनिया, लखनऊ की निदेशक सुश्री रूप रेखा वर्मा की अनुमति से साभार प्रकाशित।

कक्षा में खड़े होकर अध्यापक के प्रश्न का उत्तर देती हुई लड़की या परीक्षा की तैयारी करती हुई लड़की हमारी सामान्य दृष्टि में सिर्फ़ एक विद्यार्थी रह जाती है। स्कूल की वर्दी पहनकर गली से गुज़रती लड़की को देख रही हमारी आंखें रीति-रिवाजों और विश्वासों की लीक पर चलने वाली लड़की को देखने में असमर्थ हो जाती हैं। स्कूल या कॉलेज के फाटक में कदम रखती हुई लड़की उस दूसरी लड़की को घर पर नहीं छोड़ आई होती है, जो समाज की यौन-दृष्टि और घर की निरंतर रोक-टोक से बने माहौल में जीती है। यह लड़की जो स्कूल में बैठकर अपने जीवन का लक्ष्य स्वयं ढूंढ़ने की शब्दावली सीख रही है, उस लड़की को अपने मानस में समेटे है जो शैशवकाल से सुनती-सीखती आई है कि उसकी जिन्दगी के पड़ाव और लक्ष्य पहले से निश्चित हैं। इन दोनों अस्तित्वों के बीच का फ़ासला हर बच्ची के अंतर्जगत में एक स्वाभाविक उलझन और असंभव-सी चुनौती उत्पन्न करता है। इस चुनौती का जवाब बहुत-सी लड़कियों के लिए किशोरावस्था के बीतने तक हो चुका होता है। वे जान चुकी होती हैं कि औरत के रूप में उनका जीवन उसी धुरी पर चलेगा जो समाज की सभ्यता ने उनके जन्म से पहले, बहुत पहले, बना दी थी। अपने पूर्व-निर्धारित जीवन चक्र की उस धुरी पर जमे रहकर ही वे अपनी अन्य इच्छाओं और रुचियों को यत्किंचित जगह दे पाएंगी, यह बात ज़्यादातर लड़कियां अपनी शिक्षा के समाप्त होने से काफ़ी पहले समझ चुकी होती हैं।

यहां पहुंचकर मैं दो बातों को तराशकर कहना चाहूंगा। पहली बात यह है कि जीवन का लक्ष्य और उसके पड़ावों के पूर्व-निर्धारित होने की समझ कोई घटना नहीं है, जिसे हम अलग से देख सकते हों। न ही यह कोई षडयंत्र है जिसका विरोध करने के लिए हम किसी अधिकारी, नेता या संपादक का ध्यान खींचना जरूरी पाते हों। यह तो एक ऐसी सहज और दैनन्दिन जीवन में समाई हुई प्रक्रिया है, जिसमें हम स्वयं मां-बाप बनकर अपना सहयोग देने लगते हैं। दूसरी बात उस लक्ष्य और उसके रास्ते के पड़ावों की सामान्यता की है जो लड़की के पारंपरिक जीवन में पूर्व-निर्धारित हैं। विवाह करना मनुष्य के सामाजिक जीवन की एक साधारण घटना है और मां या पिता बन जाना इस क्रम में प्रकट होने वाली सामान्य भूमिकाएं हैं। इन्हें जीवन का लक्ष्य मान लिया जाए तो शिक्षा जैसे किसी बड़े सार्वजनिक कर्म की क्या ज़रूरत रह जाएगी? हालांकि लड़कियों के लालन-पालन के लगभग प्रत्येक छोटे-बड़े उपक्रम में विवाह और मातृत्व की तैयारी छिपी रहती है। इस तैयारी का सूक्ष्म संदेश उस माहौल की रचना करता है जिसमें लड़कियां मां की गोद से लेकर युवा होने तक की दैहिक व मानसिक यात्रा करती हैं। विवाह और मातृत्व उनके भावी जीवन की घटना नहीं रह जाते, वर्तमान को डुबाए रखने वाली चेतना के संचालक बन जाते हैं। पिछले सौ वर्षों में बचपन में विवाह और किशोर होते ही मातृत्व के आंकड़े घटे हैं, लेकिन लड़कियों के मनोविकास को प्रभावित करने वाले कारकों के रूप में इन दो घटनाओं का महत्त्व विशेष नहीं घटा है। इन कारकों का विश्लेषण करते हुए हमें ध्यान रखना होगा कि वे समाज और उसकी बुनियादी संस्थाओं के सामान्य, दैनिक जीवन-क्रम में इस कदर घुले-मिले हैं कि उनके ज़रिए होने वाला पितृसत्ता का निर्माण अलग से अथवा किसी बड़ी घटना की तरह नहीं देखा जा सकता। पितृसत्ता अपने-आपमें एक विराट व्यवस्था है; उसका नाम भर ले लेने से उसकी व्याप्ति नहीं समझी जा सकती। उसका अहर्निश निर्माण लड़की के बाल्यकाल को बारीक, और पैनी छैनी से, कभी ममता तो कभी निर्ममता के साथ तराशकर ही संभव होता है। उसकी बालसुलभ वृत्तियों की मानवोचित विविधता को विवाह और मातृत्व के सर्वोच्च उद्देश्यों के दायरे में परिसीमित कर देना एक असाधारण और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से क्रूर कर्म है।

इस कर्म में कौनसे हिस्से प्रकृति की देन हैं और कौनसे इतिहास की, यह बहस आज एक मायने में व्यर्थ हो चुकी है। स्त्री का सामाजिक इतिहास पूरी तरह न सही तो कम से कम इतना अवश्य समझा जा चुका है कि हम उसकी लाचारियों के असंख्य संदर्भों का अनुमान लगा सकें। 'शृंखला की कड़ियां' पुस्तक में महादेवी वर्मा ने लिखा हैः ''स्त्री को अपने व्यक्तित्व को पुरुष की छाया बना देना चाहिए, अपने व्यक्त्वि को उसमें समाहित कर देना चाहिए, इस विचार का पहले कब आरम्भ हुआ, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि यह किसी आपत्तिमूलक विषवृक्ष का ही विषमय फल रहा होगा।'' औरत के जीवन को एक निश्चित धुरी से बांधकर उसकी ऊर्जा को नियन्त्रित करने का कार्यक्रम यदि आज भी कई लोगों को प्रकृति की देन लगता है तो आश्चर्य नहीं। स्त्री की पराधीनता का विश्लेषण करते हुए मिल ने लिखा था- 'पर क्या कभी ऐसा कोई वर्चस्व रहा है जो उसके

अधिकारियों को प्राकृतिक न लगा हो?' वर्चस्व की रचना का सिलसिला बचपन के संदर्भ में समझने के लिए मैंने भारतीय समाज विज्ञान अनुसंधान परिषद् के अनुदान से 5 वर्ष से लेकर 18 वर्ष की ग्रामीण और शहरी लड़कियों के दैनिक जीवन का अध्ययन किया। मैंने पाया कि उनके मानस का परिसीमन और 'आत्म' का वांछित निर्माण घर, पड़ोस और संचार व मनोरंजन उद्योग के सम्मिलित प्रयास से संभव होता है। स्कूल की शिक्षा इस वृहत्तर प्रयास में कोई विशेष बाधा पैदा नहीं करती। खेल, पढ़ाई, घर और बाहर, अंधेरा, शाम, इतवार, खुशी और भय सरीखी तमाम अवधारणाएं इस तरह बनती हैं कि उन पर औरत के स्वीकृत जीवन और व्यक्तित्व की छाप पड़ जाए। रीति-रिवाजों, सौंदर्य प्रसाधनों और परंपरा में स्थापित स्त्री-जीवन के आदर्शों की जानकारी छोटी उम्र से ही मिलनी शुरू हो जाती है। यह ज्ञान स्कूल से मिलने वाले ज्ञान पर भारी पड़ता है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से बच्चों के विकास-क्रम में अस्मिता का उद्‌भव बड़ा महत्त्व रखता है। अस्मिता से आशय है स्वयं की चेतना। इस बात का अहसास कि 'मैं कौन हूं?' बच्चों के मन में विवेक की बुनियाद बनता है। दूसरों द्वारा दी गई पहचान और स्वयं के बारे में अपनी समझ अलग चीज़ें हैं। इनके बीच का संघर्ष व्यक्तिव के विकास में बड़ी भूमिका निभाता है और हर व्यक्ति की विशिष्ट रचना-शक्ति को दिशा देता है। निर्णय लेना और अपने निर्णय के नतीजों के लिए खुद को ज़िम्मेदार मानना बच्चों के बौद्धिक और भावनात्मक विकास की नींव है। ये बातें यहां इस तरह कही जा रही हैं मानो 'बच्चे' शब्द में लड़कों और लड़कियों को समानतः शामिल किया जा सकता हो। व्याकरण की दृष्टि से ऐसा करना ठीक है, पर समाज और संस्कृति का व्याकरण हमसे मांग करता है कि हम किसी भी मनोवैज्ञानिक बात को लड़के और लड़कियों दोनों पर लागू करने से पहले लड़कियों के बचपन में अच्छी तरह यानी चैतन्य होकर झांक लें। प्रोफेसर लीला दुबे ने अनेक अध्ययनों को समेटकर लड़कियों के बचपन की विवेचना करने का प्रयास किया। उन्होंने पाया कि रीति-रिवाजों, विभिन्न पर्वों से जुड़े हुए कर्मकांडों, हंसने, कूदने, बोलने, लेटने जैसे दैनिक व्यवहारों, कपड़ों और गहनों के संदर्भ में संप्रेषित जानकारियों और मिथकों, आख्यानों व लोकोक्तियों के ज़रिए लड़कियों को दिया जाने वाला विस्तृत प्रशिक्षण उनमें आत्म-संशय की सृष्टि करता है। विवाह और मातृत्व की तैयारी के सिलसिले में किए जाने वाले यौनत्व के कठोर प्रबंधन का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा अपनी देह की अशुचिता संबंधी मान्यता को गहराई से स्वीकार या अंतर्भूत कर लेना है। विवाह के तहत पिता का घर छोड़ने की विवशता, जिस पर मैं कुछ ही देर में लौटूंगा, और अपरिचित घर में सहज होकर रहने की तैयारी से जुड़े व्यक्तित्व का सार स्वयं को पूरी तरह विलनशील बनाने में निहित है। इन सभी प्रशिक्षणों को लीला दुबे ने उस पारस्परिक रूपक में समेटा है, जिसके अनुसार ''स्त्री को पानी की तरह होना चाहिए जिसका अपना खुद का कोई आकार नहीं होता और इसलिए वह जिस बर्तन में डाला जाता है, उसका ही आकार ग्रहण कर लेता है; पानी कोई निशान भी नहीं छोड़ता।''

विवाह का अर्थ छोटी आयु में लड़की के मानस में क्या स्वरूप लेता है, संज्ञानात्मक और भावनात्मक परिधियों में किस तरह की सरंचनाओं के ज़रिए विकसित होता है, इस विषय पर व्यवस्थित मनोवैज्ञानिक अनुसंधान ज़रूरी है। उसके अभाव में आज हम कुछ तार्किक अन्वेषण कर सकते हैं। साहित्य और लोकगीतों में विवाह की कल्पना आम तौर पर उस चमक-दमक और दुल्हन की रूप-सज्जा से छोटी लड़कियों के मन में उत्पन्न कौतूहल और एक रोमांचक अनुभव के चित्रण की तरह मिलती है। इस चित्रण में एक ओर रोमांच है तो साथ में विदाई का दुःख है। सभी कुछ एक पूर्व-निश्चित या सामान्य विधान है, जिसकी अनिवार्यता पर ज़्यादा सोचना व्यर्थता से जुड़ा है। शादी के बाद पिता का घर छोड़ने की अनिवार्यता और एक अनजान घर की बसाहट का विचार शैशव काल से ही लड़की के मानस में बिठा देने की परंपरा स्वयं एक विधान है जो लड़कियों के लिए उपयुक्त लालन-पालन की राह माता-पिता को दिखाता है। छोटे बच्चे के लिए घर ही संसार होता है। शिशु के संज्ञान में घर महज़ रहने की जगह नहीं है। माता-पिता घर के भीतर उस 'बाहर' की सृष्टि करते हैं जहां शिशु स्वयं नहीं जा सकता। ('शिशु' व्याकरण की दृष्टि से पुल्लिंग है, अतः यहां हमें शिशु की कल्पना लड़की के रूप में करनी होगी।) घर किसी शिशु के लिए माता-पिता की उपस्थिति के कारण घर होता है, संसार का अंग होते हुए भी उससे थोड़ा अलग- संसार का बाल-संस्करण। उसके अनिवार्य अस्थायित्व का विचार और माता-पिता के रहते उनसे अलग कर दिए जाने की कल्पना बालमन में भय और बेबसी

से उत्पन्न अवसाद पैदा कर देने के लिए पर्याप्त है। यह घर मेरे माता-पिता का है, फिर भी मेरा नहीं है, मेरा घर किसी और जगह पर बसेगा जो मुझे मालूम नहीं है, इस विचार का संप्रेषण शैशव काल से शुरू हो जाता है। अस्थायित्व और आशंकाओं के भावों के बीच विकसित होते हुए लड़की के बाल-मानस की तुलना लड़के के बाल-मानस से नहीं की जा सकती, भले हर दैनिक व्यवहार और घरेलू जिम्मेदारियों में होने वाले भेदभाव को दूर कर दें जो अपने-आपमें आज एक सपना भर है। प्रश्न यहां केवल परंपरा का नहीं है, उस माहौल का है जिसके अनगिनत संप्रेषण छोटी बच्ची के मनोवैज्ञानिक सत्य की अनदेखी करते हैं या उसे इस तरह ढालते हैं जैसे वह एक बच्चे का मानस न होकर एक निर्माणाधीन औरत का मानस है। आज हमारे विश्वविद्यालयों में जो बाल-मनोविज्ञान पढ़ाया जाता है, उसमें बालिका-मनोविज्ञान शामिल ही नहीं है क्योंकि हमने एक सतही सार्वभौमिकता का चश्मा पहन रखा है जिसके कारण हमें अपना सांस्कृतिक यथार्थ दिखाई नहीं देता।

लड़की के मानस की रचना को समझने के प्रयास में हमें उन तमाम छोटे-छोटे उपक्रमों, उनसे संबंधित मान्यताओं और उन्हें नए सांचों में ढाल रहे आधुनिक उद्योग-तंत्र व मीडिया पर ध्यान देना होगा जो मिल-जुलकर एक जटिल किन्तु रोज़ाना किस्म के जगत का निर्माण करते हैं। इन उपक्रमों का विस्तृत ब्योरा और विश्लेषण मैंने अपनी पुस्तक 'चूड़ी बाज़ार में लड़की' में दिया है; यहां उन्हीं में से दो-चार चुने हुए प्रसंगों का संक्षेप में जिक्र करना ही संभव है। इस पुस्तक के संदर्भ में कृष्णा सोबती ने लिखा है कि स्त्री के लिए समाज ने एक अलग देह-केन्द्रित दृष्टिशास्त्र रच दिया है। देह के अंगवार विखंडन और प्रत्येक अंग-विशेष की चिंता के साथ की जाने वाली संभाल लड़की के बाल-मानस को कुंठित करने और क्षुद्र चिंताओं में उलझाए रखने में सफल होती है। बाल किस दिन धोने चाहिएं, पैर की किस उंगली में पहनी जाने वाली बिछिया किस रिश्ते के लिए शुभ होती है, इस किस्म की जानकारी पांच-छः वर्ष की बच्ची के पास पहुंच चुकी होती है। कान और नाक छिदवाने की पीड़ा से वह गुज़र चुकी होती है और रुलाई के क्षणों में बहादुरी और संयम का अभिनय सीख चुकती है। समाज, संस्कृति और शृंगार-उद्योग की सम्मिलित इंजीनियरी उसके अंग-अंग के नियोजन का अभियान उसी के मानस में उतार चुकी होती है। इस तरह लड़की स्वयं अपने दमन चक्र में शामिल होने के लिए तैयार कर दी जाती है।

वैसे तो हरेक गहने का अपना चिह्नशास्त्र है, पर चूड़ी एक अनोखा गहना है। शैशव से लेकर किशोर और युवा होने तक लड़की के मानस को समाज के स्थापित दृष्टिशास्त्र और मूल्यों के ढांचे में ढालने के काम में चूड़ी का किसी अन्य गहने से मुकाबला नहीं है। साहित्य, संगीत और आधुनिक माध्यमों में प्रयुक्त होने वाले नारी-जीवन के प्रतीकों में उसका स्थान सिंदूर और दुपट्टे की हैसियत रखता है। चूड़ी के प्रतीकार्थ उसकी रंगीन पारदर्शिता, भंगुरता और पहने जाने के स्थान अर्थात् कलाई से संबंधित हैं। छोटी बच्चियां गोद में चढ़कर या उंगली पकड़कर मां के साथ चूड़ी की दुकान में जाती रही हैं, वहां के माहौल को अल्पायु से अपने अंतर्मन में उतारती रही हैं, पर इधर के दशकों में बचपन में ही चूड़ी पहनने का रिवाज बढ़ा है और विवाह के समय पहनी जाने वाली चूड़ियां, केवल रंग और संख्या की दृष्टि से विशिष्ट रह गई हैं। चूड़ी कांच से बनती है, सस्ती और सुलभ है, उसका रंगीन होना बालदृष्टि को आकर्षित करता है। हालांकि उसका प्रतीक-शास्त्र जटिल है, दैनिक जीवन की सामान्यता में डूबा हुआ है, इसलिए चर्चा के लायक नहीं ठहरता। उसका नाजुक और भंगुर स्वभाव स्त्री-जीवन के कई गहरे प्रतीकार्थ रचता है जिनकी व्याप्ति साहित्य, लोकगीतों और सिनेमा में है; अतः ये प्रतीकार्थ लगातर पुष्ट होते रहते हैं और सामाजिक बदलाव का दबाव सहने में समर्थ बने रहते हैं। चूड़ी की विविध व्यंजनाएं भाषा में भी समाई हुई हैं। एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। पहनते समय असावधानी से चूड़ी टूट जाए तो लड़की को बताया जाता है, 'टूट गई' मत बोलो, 'मौल गई' बोलो। 'टूटने' में तोड़े जाने का भाव निहित है जो विधवा हो जाने के संस्कार से जुड़ा है, अतः अपशकुन है। पहने जाते समय चूड़ी लापरवाही की सूचना देती है। नारी बनने के क्रम में यह ज़रूरी है कि लड़की लापरवाही का वह खास अर्थ सीखे जो सिर्फ़ औरत पर लागू होता है। इस अर्थ के अनुसार कोई लापरवाही छोटी या बड़ी नहीं होती- लड़की को यह जल्दी से जल्दी समझ लेना चाहिए कि हर लापरवाही गंभीर होती है। इस अर्थ में दैहिक, पारिवारिक और यौनिक व्यंजनाएं निहित हैं और उनके दायरे में लड़की के बाल्यकाल का हर पक्ष समाया हुआ है। उदाहरण के लिए, खेल को लें।

खेल-खेल में चोट लग जाना साधारण बात है, पर लड़की के लिए कोई भी चोट बहुत भारी पड़ सकती है। चेहरा हो, बांह हो या देह का कोई भी कोना, छोटी लड़की के शरीर पर लगी हर चोट को परिवार में इस दूरदृष्टि और चिंता के साथ देखा जाता है कि यदि चोट कोई निशान छोड़ेगी तो विवाह में दिक्कत होगी। इस विषय पर महादेवी वर्मा का दिया हुआ रूपक सारी बात कह देता है। उनके अनुसार लड़की दुकान में रखी वस्तु है। दुकानदार की जिम्मेदारी है कि वह वस्तु को संभालकर रखे, जब तक ग्राहक आकर वस्तु की जांच करके उसे ले नहीं जाता।

लड़की सिर्फ़ देह है, या उसमें दिमाग भी है? वह एक अजीब किन्तु बड़ा सवाल है और सामाजिक दृष्टि को समझने के लिए इसी रूप में पूछा जाना ज़रूरी है। कृष्णा सोबती मानती हैं कि समाज द्वारा रचे गए दृष्टिशास्त्र में यदि लड़की का दिमाग और विचार शामिल हो जाएं तो परिवार-संस्थान में उथल-पुथल मच जाए। पिछले लगभग सवा सौ वर्षों पर नज़र डालें तो हम शिक्षा के कारण उत्पन्न हुई इस उथल-पुथल में कई नज़ारे देश के तमाम अंचलों में देख सकते हैं। शिक्षा स्वयं लिंग-विषमता और सतत भेदभाव के परिवेश में चलती है, फिर भी वह समाज के देह-केन्द्रित दृष्टिशास्त्र में बाधा बनती है। शिक्षा का संबंध क्योंकि दिमाग से है, इसीलिए पढ़ाई के सवाल को लेकर घर-घर में टकराव और संघर्ष का इतिहास लड़कियां रचती आई हैं। शिक्षा उन्हें अभिमन्यु बनाती है, जिसे विवाह के पहले भी लड़ना होता है और विवाह के बाद भी लड़ते जाना होता है। शिक्षा स्वयं कमज़ोर है, पर वह एक स्मृति अवश्य बन जाती है, अपनी वैचारिक स्वाधीनता और सत्ता के स्वप्न की स्मृति। पाठ्यक्रम, शिक्षण, खेल और यहां तक कि सुरक्षा की दृष्टि से भी स्कूल की व्यवस्था कमज़ोर बनी रही है। फिर भी स्कूल ही एक जगह है जहां उस आतंक से मुक्ति की क्षणिक-सी कल्पना लड़की के मानस में पैदा हो जाती है जो द्रौपदी ने झेला था। द्रौपदी की कथा आज तक उस आतंक की पुनर्सृष्टि करने में समर्थ है।

परंपरा से होता आया स्त्री के दमन और समर्पण का बंदोबस्त आज संचार के आधुनिकतम साधनों और व्यापार की नई सभ्यता के जिम्मे आया है। रीति और व्यापार का सहकार देखने-समझने के लिए कपड़ों, गहनों, त्वचा, होंठों, आंखों और बालों से लेकर पैरों की एड़ियों तक कोई भी देह-स्थल चुना जा सकता है जिसका इस्तेमाल पुरुष-सत्ता अपनी अभिव्यक्ति और दीर्घायु के लिए करता है। विश्व पूंजीतंत्र द्वारा रचे गए माहौल में जो लड़की नारी की पारंपरिक छवि को नकारने की कल्पना करती है, उसे स्वयं अपनी नियति पर संशय हो आता है। गीत-संगीत, टीवी और सिनेमा, नए-पुराने, उत्सव-पर्व सभी में इस माहौल के निर्माताओं-निर्देशकों की पहुंच है। दमनतंत्र की सक्रियता लड़की के जन्म से पूर्व शुरू हो जाती है और शैशव से लेकर पूरे बाल्यकाल और किशोरावस्था के वर्षों में पूरी ताकत के साथ बनी रहती है। नर्सरी में पढ़ रही नन्ही-सी बालिका को उसके सफल, जागृत माता-पिता ने छोटी-सी श्रृंगार-मेज़ खरीदकर दी है। उस पर लगे दर्पण के सामने बैठकर वह होठों पर लिपस्टिक लगाती है, आई-लाइनर से आंखों और रूज़ से गालों को सजाती है। उसके पास ऊंची ऐड़ी की चप्पलें भी हैं जिन्हें पहनकर वह लड़खड़ाती हुई मुद्रा में चलकर गिरती-संभलती सुंदर औरत का अभिनय करती है। उसके पास सुनहले बालों वाली बार्बी और उसके तमाम उपकरण व परिधान हैं। चेहरे और देह की साधना में घंटों बिताने वाली यह बच्ची जब अपनी नर्सरी कक्षा के सांस्कृतिक कार्यक्रमों में स्कूल के मंच पर सहेलियों के साथ सजकर पहुंचती है तो माता-पिता खुश हो जाते हैं। शिक्षा और लोकतंत्र के प्रसार के परिदृश्य में पारंपरिक रीति और नए पूंजीतंत्र का गठबंधन हमारे सामाजिक जीवन के हर कोने में अभिव्यक्त हो रहा है। वह एक अंतर्विरोध भी है और समझ का द्वार भी। यदि हम इस द्वार में कुछ गहराई से झांकें तो यह जान सकेंगे कि शिक्षा के ज़रिए यत्किंचित जागृत होती लड़की किस तरह अपने दमन में सहयोगी बना ली जाती है। ◆